संपादकीय

नीट विवादः टूटता भरोसा और युवा आक्रोश की दस्तक

देश की सबसे प्रतिष्ठित मेडिकल प्रवेश परीक्षा नीट-यूजी एक बार फिर विवादों के केंद्र में है। पेपर लीक के आरोपों और परीक्षा रद्द होने के बाद पैदा हुई अनिश्चितता ने लाखों छात्रों और उनके परिवारों को मानसिक तनाव के ऐसे दौर में धकेल दिया है, जिसकी कीमत कई युवा अपनी जान देकर चुका रहे हैं। यही कारण है कि जंतर-मंतर पर प्रस्तावित प्रदर्शन को केवल एक राजनीतिक विरोध या किसी मंत्री के इस्तीफे की मांग के रूप में नहीं देखा जा सकता। यह उस व्यापक असंतोष की अभिव्यक्ति है, जो देश के युवाओं के भीतर लगातार जमा हो रहा है।

इस वर्ष 22 लाख से अधिक छात्रों ने नीट-यूजी परीक्षा दी थी। मेडिकल कॉलेज में प्रवेश का सपना लेकर वर्षों तक कठिन परिश्रम करने वाले इन छात्रों के लिए परीक्षा केवल एक टेस्ट नहीं, बल्कि उनके जीवन की दिशा तय करने वाला अवसर होती है। ऐसे में जब परीक्षा की निष्पक्षता पर सवाल उठते हैं और उसे रद्द करने जैसी नौबत आती है, तो सबसे बड़ा आघात छात्रों के विश्वास पर पड़ता है।

सबसे चिंताजनक पहलू छात्रों की आत्महत्या की बढ़ती घटनाएं हैं। पिछले कुछ वर्षों में नीट से जुड़ी आत्महत्याओं के आंकड़े लगातार चिंता बढ़ा रहे हैं। कोटा से लेकर बिहार, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और तमिलनाडु तक ऐसी घटनाएं सामने आई हैं, जिन्होंने यह सवाल खड़ा कर दिया है कि क्या हमारी शिक्षा व्यवस्था सफलता और असफलता के बीच संतुलन बनाने में पूरी तरह विफल हो रही है? परीक्षा रद्द होने के बाद भी कई छात्रों द्वारा आत्महत्या किए जाने की खबरें इस संकट की गंभीरता को और बढ़ा देती हैं।

इसी पृष्ठभूमि में उभरी कॉकरोच जनता पार्टी एक प्रतीक बन गई है। यह केवल एक संगठन नहीं, बल्कि उस पीढ़ी की निराशा और व्यंग्यात्मक प्रतिरोध का चेहरा है, जिसे लगता है कि उसकी समस्याओं को गंभीरता से नहीं लिया जा रहा। सोशल मीडिया पर इसकी लोकप्रियता यह संकेत देती है कि युवाओं के भीतर व्यवस्था के प्रति असंतोष कितना गहरा है। जब कोई आंदोलन कुछ ही दिनों में करोड़ों लोगों तक पहुंच जाता है, तो उसे केवल इंटरनेट की सनसनी कहकर खारिज नहीं किया जा सकता।

किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था में विरोध और प्रदर्शन नागरिक अधिकार हैं, लेकिन समाधान केवल सड़कों पर नहीं मिलेगा। सरकार को परीक्षा प्रणाली की विश्वसनीयता बहाल करने के लिए पारदर्शी और त्वरित कार्रवाई करनी होगी। यदि कहीं पेपर लीक या अनियमितता हुई है, तो उसकी निष्पक्ष जांच और दोषियों पर कठोर कार्रवाई अनिवार्य है। साथ ही छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य को शिक्षा नीति का केंद्रीय विषय बनाना होगा। प्रतिस्पर्धा के इस दौर में केवल करियर की तैयारी पर्याप्त नहीं, बल्कि भावनात्मक और मनोवैज्ञानिक सहयोग भी उतना ही आवश्यक है।

भारत की युवा आबादी देश की सबसे बड़ी ताकत है। यदि यही वर्ग व्यवस्था पर से भरोसा खोने लगे, तो यह केवल शिक्षा का संकट नहीं, बल्कि सामाजिक और राष्ट्रीय चिंता का विषय बन जाता है। परीक्षा प्रणाली का उद्देश्य अवसर प्रदान करना है, निराशा पैदा करना नहीं। इसलिए आज जरूरत केवल दोष तय करने की नहीं, बल्कि उस भरोसे को पुनर्स्थापित करने की है, जो लाखों छात्र अपने भविष्य के साथ इस व्यवस्था पर करते हैं।

कोई भी परीक्षा जीवन से बड़ी नहीं हो सकती। लेकिन यह भी उतना ही सच है कि एक निष्पक्ष और विश्वसनीय परीक्षा व्यवस्था ही युवाओं को यह विश्वास दिला सकती है कि उनके सपनों की कीमत समझी जा रही है। जंतर-मंतर का आक्रोश इसी भरोसे की मांग है।

आजकल

बाड़ ही खेत खाने लगे तो रखवाला कौन?

मध्यप्रदेश में मुख्यमंत्री डॉ. मोहन यादव ने सत्ता संभालते ही भ्रष्टाचार के प्रति जीरो टॉलरेंस की नीति दोहराई थी, लेकिन विडंबना यह है कि जिस लोकायुक्त संगठन को भ्रष्टाचार पर लगाम लगाने का जिम्मा सौंपा गया है, उसी के अधिकारियों पर रिश्वत लेने के आरोप लग रहे हैं। हाल ही में भोपाल लोकायुक्त कार्यालय के एक निरीक्षक और आरक्षक को 80 हजार रुपये रिश्वत लेते पकड़ा गया। आरोप है कि शिकायत बंद करने के नाम पर पांच लाख रुपये की मांग की गई थी।

यह कोई पहली घटना नहीं है। पिछले दो वर्षों में लोकायुक्त संगठन के कई अधिकारियों और कर्मचारियों पर भ्रष्टाचार के मामले दर्ज हो चुके हैं। ऐसे में सवाल उठना स्वाभाविक है कि जब भ्रष्टाचार के खिलाफ कार्रवाई करने वाली संस्था ही संदेह के घेरे में हो, तो आम नागरिक न्याय की उम्मीद किससे करे।

लोकायुक्त की जिला इकाइयों में भी लगातार शिकायतें सामने आती रही हैं। ट्रैप कार्रवाई की सूचना लीक होना, जांच में देरी और कमजोर चालान जैसी बातें संस्था की विश्वसनीयता पर प्रश्नचिह्न लगाती हैं। सरकार की नीयत पर सवाल नहीं है, लेकिन नीति तभी प्रभावी होती है जब उसे लागू करने वाली व्यवस्था पारदर्शी और जवाबदेह हो।

जरूरत इस बात की है कि लोकायुक्त संगठन स्वयं के भीतर भी सख्त निगरानी व्यवस्था विकसित करे। आंतरिक सतर्कता तंत्र को मजबूत बनाया जाए, शिकायतों की डिजिटल ट्रैकिंग हो और दोषी अधिकारियों पर कठोर कार्रवाई सुनिश्चित की जाए। भ्रष्टाचार के खिलाफ लड़ाई में सबसे पहले प्रहरी की साख बचाना आवश्यक है।

जनता भाषण नहीं, परिणाम देखती है। जब बाड़ ही ईमानदार होगी, तभी खेत सुरक्षित रहेगा। लोकायुक्त की विश्वसनीयता बचेगी, तभी सरकार की जीरो टॉलरेंस नीति भी जनता के बीच प्रभावी दिखाई देगी।

गाय, राष्ट्रीय पशु और सियासत

गाय को राष्ट्रीय पशु घोषित करने की मांग बड़े-बड़े मौलाना उठा रहे हैं। हर राज्य से यह मांग उठ रही है। ऐसा लगता है कि गौमाता की रक्षा को मिल रहे देशव्यापी समर्थन को देखते हुए यह मांग सौहार्द्र की चाशनी में लिपटी हुई है। अगर गाय राष्ट्रीय पशु घोषित हो जाती है, तो क्या उसे काटने वाले सुधर जाएंगे?

क्या कोई कानून किसी को सुधार सकता है? गाय को माता कहा जाता है। गाय हमारी संस्कृति और आजीविका से जुड़ी हुई है। कृषि प्रधान देश में गोवंश के बिना पहले खेती की कल्पना नहीं की जा सकती थी। अब यंत्रीकरण हो गया है। देश में उसी की ज्यादा चर्चा होती है, जो राजनीति का विषय बन जाता है। जब देश में भारतीय संस्कृति और हिंदुत्व राजनीति की नजरों से दूर थे, तब ऐसी मांग नहीं उठी। अब कई राज्यों में गौहत्या पर पूर्ण प्रतिबंध है।

राज्यों के मुख्यमंत्री गौहत्या की घटनाओं पर कड़ा रुख अपनाते हैं। अक्सर देखा जाता है कि मुख्यमंत्री गायों की पूजा कर रहे हैं। दो दशक पहले ऐसा नजारा कम ही दिखता था। उमा भारती तो मध्य प्रदेश की मुख्यमंत्री के रूप में हर दिन गाय की पूजा करती थीं। हर दिन तो नहीं, लेकिन सबसे बड़े सूबे उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ अक्सर गाय की पूजा करते दिखाई पड़ते हैं। बंगाल के नए मुख्यमंत्री शुभेंदु अधिकारी ने भी गौपूजन की शुरुआत की है।

बंगाल ऐसा राज्य था, जहां बकरीद के अवसर पर गाय की कुर्बानी देने पर भी प्रतिबंध नहीं था। शुभेंदु सरकार ने पहली बार इस पर रोक लगाई।

पहली आवाज बंगाल में ही मुस्लिम समाज की ओर से आई कि गाय को राष्ट्रीय पशु घोषित किया जाए। फिर उत्तर प्रदेश और कई दूसरे राज्यों से भी ऐसी ही मांगें उठने लगीं। विभिन्न समुदायों के बीच उनकी आस्थाओं और धार्मिक प्रतीकों के प्रति सद्भावना का वातावरण निश्चित ही देशहित में है, लेकिन इस मांग के पीछे के मंतव्य को योगी आदित्यनाथ बखूबी समझते हैं।

मनुष्य पशु को राष्ट्रीय पशु घोषित करने की मांग कर रहा है। पशु के पास यह अवसर नहीं है कि वह मनुष्य को राष्ट्रीय मनुष्य घोषित करने की मांग कर सके। मनुष्य खुद जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र और मजहब में बंटा हुआ है। जितने भी विवाद हैं, उनमें पशु शामिल नहीं हैं। वे सब मनुष्यों के बीच ही हैं।

उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री कह रहे हैं कि गाय को राष्ट्रीय पशु घोषित करने की मांग मौलाना उठा रहे हैं। हमारी संस्कृति में गाय को माता के रूप में माना जाता है। माता-पिता के मान, सम्मान और संरक्षण के लिए क्या किसी घोषणा की जरूरत है? अगर यह मान भी लिया जाए कि गाय को राष्ट्रीय पशु घोषित कर दिया जाता है, तो क्या उसे काटने वाले गौहत्या बंद कर देंगे? अभी देश में राष्ट्रीय स्तर पर गौहत्या प्रतिबंध नहीं है। कई राज्यों में गौहत्या पर प्रतिबंध के कड़े कानून बनाए गए हैं। मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, गुजरात, हरियाणा, राजस्थान और महाराष्ट्र जैसे राज्यों में गौहत्या और बीफ की बिक्री पर सख्त प्रतिबंध है। उल्लंघन करने पर 10 वर्ष तक की सजा का प्रावधान है। दूसरी तरफ, पूर्वोत्तर के कई राज्यों में इस पर प्रतिबंध नहीं है। राष्ट्रीय प्रतीक के रूप में पहले से ही देश में बाघ राष्ट्रीय पशु, मोर राष्ट्रीय पक्षी और हाथी राष्ट्रीय धरोहर पशु घोषित हैं। इनके भी शिकार की घटनाएं सामने आती हैं।

मनुष्य पशु को राष्ट्रीय पशु घोषित करने की मांग कर रहा है। पशु के पास यह अवसर नहीं है कि वह मनुष्य को राष्ट्रीय मनुष्य घोषित करने की मांग कर सके। मनुष्य खुद जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र और मजहब में बंटा हुआ है। जितने भी विवाद हैं, उनमें पशु शामिल नहीं हैं। वे सब मनुष्यों के बीच ही हैं। अगर गाय को राष्ट्रीय पशु घोषित करने से गौहत्या रुक सकती है, तो फिर मनुष्य को राष्ट्रीय मनुष्य घोषित करने पर बहुत-सी समस्याओं का समाधान हो सकता है।

इस मांग के पीछे भी राजनीति है। कई राज्य ऐसे हैं, जहां गौहत्या पर प्रतिबंध नहीं है। ऐसे राज्यों में भी भाजपा की सरकार है। वहीं कई राज्यों में भाजपा सरकारों ने गौहत्या पर प्रतिबंध लगाया हुआ है। जो लोग इसकी मांग कर रहे हैं, वे यह जानते हैं कि राष्ट्रीय स्तर पर पूरे देश के लिए इस विषय पर कोई एक समान विधान नहीं बनाया जा सकता। इसलिए अपने कुकृत्यों को इस मांग के पीछे छिपाने की कोशिश की जा रही है। मांग करने वालों के मन में अगर गाय के प्रति इतना सम्मान है और गाय पर आस्था रखने वालों के प्रति आदर है, तो बिना राष्ट्रीय पशु घोषित हुए भी उनका समाज गाय के प्रति यही भाव रख सकता है।

भारत धर्म के आधार पर पहले ही विभाजित हो चुका है। इस्लाम के जो अनुयायी भारत को अपना राष्ट्र नहीं मानते थे, उन्होंने अपने धर्म के लिए एक अलग राष्ट्र का निर्माण कराया। आज भी आजादी के समय का मजहबी चिंतन पूरी तरह समाप्त नहीं कहा जा सकता। आज भी संविधान से ज्यादा पर्सनल कानून को प्राथमिकता दी जाती है। आज भी राष्ट्रीय सुरक्षा और राष्ट्रीयता के लिए घुसपैठियों को देश से बाहर निकालने पर राष्ट्रीय सहमति नहीं है।

आज भी भारत दुनिया का अकेला देश है, जिसकी नागरिकता का कोई रजिस्टर नहीं है। एनआरसी का विरोध किया जाता है। गाय को राष्ट्रीय पशु घोषित करने की मांग यह इशारा करती है कि लोग सुधारना चाहते हैं, लेकिन उनके अनुसार इसके लिए कानून जरूरी है। राष्ट्रीय मनुष्य बनेगा तो उसे वंदे मातरम् राष्ट्रगीत गाने में कोई एतराज नहीं होगा।

संविधान पर पर्सनल कानून को प्राथमिकता देने की जिद नहीं होगी। देश के प्रत्येक नागरिक के लिए यूनिफॉर्म सिविल कोड पर सर्वानुमति होगी।

अगर हर नागरिक राष्ट्रीय मनुष्य हो जाएगा, तो देश में किसी भी माता-पिता को बुढ़ापे में संरक्षण के लिए सरकार को कानून नहीं बनाना पड़ेगा। भारत में माता-पिता और वरिष्ठ नागरिकों के भरण-पोषण तथा कल्याण अधिनियम प्रभावशील है। यह कानून भारतीय संस्कृति और भारत की आत्मा को लहूलुहान कर रहा है।

(नईदुनिया संपादकीय डेस्क)

कठघरे में सिर्फ मीडिया क्यों? दर्शक भी उतने ही गुनहगार?

राजीव खंडेलवाल

आज के दौर में मीडिया की शक्ति निर्विवाद है। सरकारों की छवि निर्माण से लेकर जनमत को प्रभावित करने तक उसकी भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण हो चुकी है। 2014 के लोकसभा चुनाव में नरेंद्र मोदी के उभार से लेकर अन्ना आंदोलन और उसके बाद अरविंद केजरीवाल के राजनीतिक उदय तक मीडिया की भूमिका निस्संदेह महत्वपूर्ण रही है। शायद इसीलिए मीडिया से सामान्यतः कोई 'पंगा' तब तक नहीं लेना चाहता, जब तक पानी सिर के ऊपर न निकल जाए।

फिल्म अभिनेता सुशांत सिंह राजपूत का मीडिया ट्रायल हो या 'ऑपरेशन सिंदूर' जैसी संवेदनशील सैन्य एवं राष्ट्रीय सुरक्षा से जुड़ी घटनाओं की अतिरंजित कवरेज, लगभग हर बार एक शब्द गूंजता है- 'टीआरपी'। आखिर टीआरपी है क्या बला? और इस पूरे खेल का असली खलनायक कौन है?

मीडिया की 'आन, बान और शान' के आकलन का प्रमुख बैरोमीटर टीआरपी है। टीआरपी अर्थात टेलीविजन रेटिंग प्वाइंट किसी टीवी कार्यक्रम या चैनल की लोकप्रियता का मापदंड है। यह बताता है कि लक्षित दर्शकों में से कितने प्रतिशत लोग किसी विशेष कार्यक्रम या चैनल को देख रहे हैं। सरल शब्दों में कहें तो टीआरपी मीडिया जगत की वह 'मुद्रा' है, जिससे उसका बाजार भाव और रुतबा तय होता है। दूसरे शब्दों में, यह किसी व्यापारी के लिए बिक्री के आंकड़ों के महत्व के समान है।

किसी चैनल की टीआरपी जितनी अधिक होती है, विज्ञापनदाताओं से उसे उतने ही अधिक और महंगे विज्ञापन मिलते हैं। यही कारण है कि चैनलों के बीच दर्शकों का ध्यान आकर्षित करने की निरंतर गला-काट प्रतिस्पर्धा रहती है, जो कई बार निम्न स्तर तक पहुंच जाती है।

टीआरपी केवल आर्थिक लाभ तक सीमित नहीं है। अधिक दर्शक संख्या चैनल की राजनीतिक पहुंच और सामाजिक प्रभावशीलता भी बढ़ाती है। सत्ता, कॉरपोरेट जगत और रसूखदार तबके स्वाभाविक रूप से उन मंचों के निकट रहना चाहते हैं, जिनकी पहुंच जनता तक व्यापक हो। मीडिया संस्थानों को भी सत्ता और कॉरपोरेट जगत के करीब रहने से लाभ मिलता है, इसलिए वे उनके आसपास बने रहने का प्रयास करते हैं। भारत में टीआरपी की गणना और प्रकाशन बीएआरसी (ब्रॉडकास्ट ऑडियंस रिसर्च काउंसिल) द्वारा किया जाता है। यह ब्रॉडकास्टर्स, विज्ञापनदाताओं और एजेंसियों का संयुक्त संगठन है। इसके लिए देशभर के चयनित घरों में विशेष उपकरण (पीपल मीटर) लगाए जाते हैं, जो यह रिकॉर्ड करते हैं कि कौन-सा चैनल कितनी देर तक देखा गया। इन आंकड़ों का विश्लेषण आयु, लिंग, ग्रामीण-शहरी पृष्ठभूमि तथा सामाजिक-आर्थिक वर्गों के आधार पर वेटेज देकर किया जाता है और फिर पूरे देश के दर्शकों का अनुमान लगाया जाता है। इसी आधार पर साप्ताहिक टीआरपी रिपोर्ट जारी होती है। जब भी कोई चैनल किसी घटना को 'राई का पहाड़' बनाकर सनसनीखेज तरीके से प्रस्तुत करता है, तो तुरंत आरोप लगता है कि यह सब टीआरपी का खेल है। यह आरोप पूरी तरह निराधार नहीं है, लेकिन क्या सारा ठीकरा मीडिया पर फोड़ देना पर्याप्त है? वास्तव में इसमें जनता की भी सहभागिता छिपी हुई है। टीआरपी किसी चैनल के स्टूडियो में नहीं, बल्कि दर्शकों के ड्राइंग रूम में बनती है।

विडंबना यह है कि जिस कंटेंट को लोग चटकारे लेकर देखते हैं, उसी की सार्वजनिक रूप से आलोचना भी करते हैं। मीडिया को कोसना और स्वयं को 'दूध का धुला' बताना वास्तविकता से आंख मूंदने जैसा है। यदि दर्शक किसी कार्यक्रम को देखना बंद कर दें, तो उसकी टीआरपी स्वतः गिर जाएगी। बाजार का सिद्धांत है-जो बिकता है, वही दिखाई देता है। यदि सनसनी, विवाद, भावनात्मक उत्तेजना और तीखी बहसों वाले कार्यक्रम लगातार ऊंची टीआरपी प्राप्त करते हैं, तो इसका अर्थ है कि दर्शकों का बड़ा वर्ग उन्हें देख भी रहा है। ऐसे में मीडिया की आलोचना करते समय दर्शकों की भूमिका को पूरी तरह नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। यह ठीक वैसा ही है जैसे कोई व्यक्ति मिठाई खाकर मधुमेह के लिए केवल हलवाई को दोषी ठहरा दे।

हालांकि इसका अर्थ यह नहीं कि मीडिया अपनी जवाबदेही से मुक्त हो जाता है। पत्रकारिता केवल व्यवसाय नहीं, बल्कि एक सामाजिक दायित्व भी है। उसका उद्देश्य केवल दर्शकों की पसंद का पीछा करना नहीं, बल्कि समाज को तथ्यपरक, संतुलित और विश्वसनीय सूचना उपलब्ध कराना भी है। यदि मीडिया दर्शकों की कमजोरियों को भुनाने लगे, तो उसका मूल उद्देश्य ही समाप्त हो जाएगा। टीआरपी की अंधी दौड़ में यदि समाचार और मनोरंजन की सीमाएं धुंधली हो जाएं, तथ्यों की जगह उत्तेजना ले ले और बहस की जगह शोर हावी हो जाए, तो पत्रकारिता की साख प्रभावित होना स्वाभाविक है। शायद यही कारण है कि पिछले कुछ वर्षों में बड़ी संख्या में दर्शक पारंपरिक टीवी मीडिया से हटकर डिजिटल और सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म की ओर आकर्षित हुए हैं। सूचना के स्रोत बढ़े हैं और दर्शकों के पास विकल्प भी।

टीआरपी के खेल में दोष और दायित्व दोनों साझा हैं। मीडिया वही परोसता है, जिसे देखने वाले मौजूद हैं, और दर्शक वही देखते हैं, जो उन्हें आकर्षित करता है। स्वस्थ पत्रकारिता और स्वस्थ जनमत दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। आखिरकार, कहावत भी है- 'ताली एक हाथ से नहीं बजती।'

(लेखक, कर सलाहकार एवं पूर्व अध्यक्ष, बैतूल सुधार न्यास)

ढाई-ढाई साल की ताजपोशी, किस संविधान के तहत?

संविधान जो नहीं कहता, वह कांग्रेस करती है। ढाई-ढाई साल मुख्यमंत्री पद का कोई प्रावधान संविधान में नहीं है, लेकिन राहुल गांधी का विधान ढाई-ढाई साल का है। कई राज्यों में तो यह विधान लागू नहीं हो पाया, लेकिन कर्नाटक में तीन साल बाद मुख्यमंत्री पद का ट्रांसफर हो गया है। डी.के. शिवकुमार मुख्यमंत्री बन गए हैं। उन्हें अब दो साल मुख्यमंत्री रहने का मौका मिलेगा।

ढाई साल के लिए मुख्यमंत्री बने सिद्धारमैया ने तीन साल बाद पद छोड़ा है। ऐसे ही नहीं छोड़ा, बल्कि हाईकमान से तमाम सौदे भी किए हैं। सरकार की कैबिनेट के मुखिया तो डी.के. शिवकुमार होंगे, लेकिन उसकी निष्ठा विभाजित रहेगी। प्रदेश कांग्रेस अध्यक्ष पद पर भी सिद्धारमैया खेमे का दावा बना रहेगा। उनका खेमा यही दबाव बना रहा है कि उनकी सरकार में डिप्टी मुख्यमंत्री के रूप में डी.के. शिवकुमार की जो स्थिति थी और जो विभाग उनके पास थे, वही स्थिति सिद्धारमैया के प्रतिनिधि को मिले। उनके बेटे को भी मंत्रिमंडल में जगह देने की सौदेबाजी की चर्चा है।

मुख्यमंत्री के पास काम करने के लिए केवल एक साल ही बचेगा। आखिरी साल तो चुनावी साल ही माना जाता है। कांग्रेस ने सत्ता भले हस्तांतरित कर दी हो, लेकिन पार्टी सरेंडर की मुद्रा में दिखाई पड़ रही है। डी.के. शिवकुमार वोक्कालिंगा समाज से आते हैं, जिसकी आबादी सीमित है। सिद्धारमैया अहिंदा की राजनीति करते हैं और ओबीसी वर्ग से आते हैं। कर्नाटक में वोक्कालिंगा, लिंगायत और अहिंदा तीन बड़े सामाजिक समूह हैं। डी.के. पार्टी के लिए ट्रबलशूटर हो सकते हैं। आर्थिक रूप से भी उन्हें कांग्रेस के सबसे प्रभावशाली नेताओं में गिना जाता है। उन पर कई तरह की जांचें भी हो चुकी हैं। हालांकि उनका जनाधार पूरे कर्नाटक में समान रूप से फैला हुआ नहीं है।

कांग्रेस और राहुल गांधी कितनी भी कोशिश करें, लेकिन कर्नाटक का सियासी नाटक अगले चुनाव तक खत्म होता नहीं दिखता। इस नाटक का अंत चुनावी पराजय के साथ ही हो सकता है। वैसे भी कांग्रेस में पिछले 25 वर्षों से किसी भी राज्य में सरकारें लगातार दोबारा नहीं लौटी हैं। कांग्रेस की आखिरी रिपीट सरकार मध्य प्रदेश में दिग्विजय सिंह की थी। जहां भी कांग्रेस एक बार जीत जाती है, वहां उसका शासन और आंतरिक सत्ता संघर्ष इतना कमजोर साबित होता है कि उसे दोबारा बहुमत नहीं मिलता। जिन राज्यों में आज कांग्रेस की सरकारें हैं, वहां भी ऐसे ही हालात दिखाई देते हैं।

अगर जातीय समीकरणों के हिसाब से देखा जाए तो कांग्रेस का राजनीतिक लाभ सिद्धारमैया के साथ खड़े रहने में ही था। राहुल गांधी केवल राजनीति में ही नहीं, बल्कि शासन-प्रशासन, उद्योगपतियों और पत्रकारों के संदर्भ में भी जातीय प्रतिनिधित्व का मुद्दा उठाते रहे हैं। उनका नारा है- जिसकी जितनी भागीदारी, उसकी उतनी हिस्सेदारी। राहुल गांधी स्वयं कहते हैं कि कांग्रेस ने ओबीसी और दलितों के मामले में यदि अपनी केंद्र सरकारों के समय गलतियां नहीं की होतीं, तो ये समुदाय पार्टी से दूर नहीं जाते।

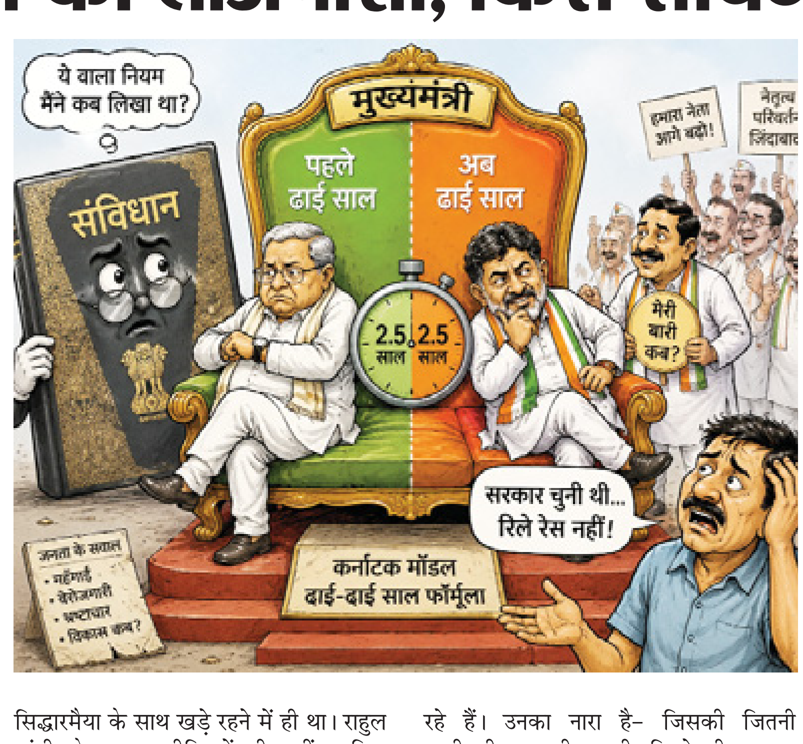

अतीत की गलतियों को स्वीकार करने के बावजूद राहुल गांधी ने एक ओबीसी मुख्यमंत्री को हटाकर सामान्य वर्ग के नेता को मुख्यमंत्री बनाया है। यह निर्णय भी भारी दबाव में लिया गया प्रतीत होता है। राहुल गांधी का राजनीतिक रिकॉर्ड कांग्रेस को मजबूत करने की बजाय कई बार कमजोर करने वाला माना जाता है। कांग्रेस में बगावत के लिए भी अक्सर उन्हें जिम्मेदार ठहराया जाता है। पार्टी छोड़कर भाजपा में गए कई नेताओं ने न केवल संवैधानिक पद प्राप्त किए, बल्कि भाजपा के विस्तार में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इसका एक और कारण यह भी दिखाई देता है कि कांग्रेस में प्रियंका गांधी की भूमिका लगातार बढ़ रही है। उनके संयमित आचरण और प्रभावी भाषण शैली की प्रशंसा कांग्रेस ही नहीं, भाजपा के नेता भी करते हैं। केरल में मुख्यमंत्री के चयन को लेकर भी राहुल गांधी को अंततः वी.डी. सतीशन के नाम पर सहमत होना पड़ा। इसके पीछे ऊपर से मुस्लिम लीग के विधायकों का दबाव दिखाई देता है, लेकिन राजनीतिक रणनीति में प्रियंका गांधी की भूमिका से भी इनकार नहीं किया जा सकता। वह वायनाड से सांसद हैं।

कर्नाटक के लोगों को कांग्रेस सरकार से क्या मिला, इसका आकलन किया जाए तो साफ दिखता है कि स्पष्ट बहुमत के बावजूद राज्य राजनीतिक अस्थिरता का शिकार बना रहा है। राज्य के विकास को नई दिशा नहीं मिल सकी। कांग्रेस आलाकमान ने जब सिद्धारमैया को दिल्ली बुलाकर इस्तीफे का संकेत दिया, तब उन्होंने भी अपने राजनीतिक दांव चलने में कोई कमी नहीं छोड़ी। उन्होंने राज्यसभा का प्रस्ताव ठुकरा दिया और ओबीसी जातियों के सरकारी सर्वेक्षण के निष्कर्ष सार्वजनिक कर दिए। यह ऐसा पिटारा है, जिसके दुष्परिणाम कांग्रेस को लंबे समय तक भुगतने पड़ सकते हैं।

भाजपा जब मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ और राजस्थान में नए नेतृत्व को अवसर देती है, तब कांग्रेस उन मुख्यमंत्रियों को 'पर्ची सीएम' कहकर तंज कसती है। कांग्रेस में तो अब 'पट्टा सीएम' की परंपरा चलती दिखाई दे रही है। डी.के. शिवकुमार भी उसी व्यवस्था का हिस्सा हैं। ढाई-ढाई साल मुख्यमंत्री बनाने की परंपरा संविधान की भावना के अनुरूप नहीं कही जा सकती। जिन राज्यों में यह फार्मूला लागू नहीं हो पाया, वहां मुख्यमंत्री और उपमुख्यमंत्री के बीच संघर्ष ने सरकारों को संकट में डाल दिया। कर्नाटक में सत्ता हस्तांतरण का सियासी नाटक भले पूरा हो गया हो, लेकिन इसके परिणाम अलग होंगे, ऐसा मानने का कोई ठोस कारण फिलहाल दिखाई नहीं देता।

(नईदुनिया संपादकीय डेस्क)